नए की चाहत का रोग

भूपति चक्रबर्ती

'नए के प्रति जुनून' यानी निओफीलिया की प्रवृत्ति विकसित देशों में गंभीर रूप अख्तियार कर चुकी है और अब इसने भारत जैसे विकासशील देशों में भी जड़ें जमानी शुरू कर दी हैं। यह जुनून केवल उपभोक्ता वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रह गया है। नए अकादमिक पाठ्यक्रमों खासकर विज्ञान, प्रौद्योगिकी व प्रबंधन के क्षेत्र में नई-नई शाखाओं-उपशाखाओं के प्रति भी आकर्षण में बढ़ोतरी हुई है। निओफीलिया पर इस नज़रिए से भी विचार करने की ज़रूरत है।

नए के प्रति चाहत मानव सभ्यता के विकास की एक मुख्य प्रेरणाशक्ति रही है। सभी आविष्कार इसी चाहत का नतीजा माने जा सकते हैं। इस प्रवृत्ति के लिए एक शब्द 'निओफीलिया' का इस्तेमाल किया जाता रहा है। अब इस शब्द का प्रयोग कई अन्य संदर्भों में भी किया जाने लगा है। समाज शास्त्रियों का मानना है कि यह शब्द अब केवल 'नए के प्रति आकर्षण' तक सीमित नहीं रह गया है। इस शब्द ने अपनी सीमाएं तोड़ दी हैं। इसमें समाई प्रवृत्ति 'नए के प्रति जुनून' में तब्दील होने लगी है। विकसित देशों में यह प्रवृत्ति गंभीर रूप अख्तियार कर चुकी है और अब इसने भारत जैसे विकासशील देशों में भी जड़ें जमानी शुरू कर दी हैं।

न्यू साइंटिस्ट में प्रकाशित एक समाचार के मुताबिक अमरीकी लोग हर साल दस करोड़ मोबाइल फेंक देते हैं। मतलब लोग एक साल के भीतर ही अपना मोबाइल फोन बदल लेते हैं। बाज़ार में जब भी मोबाइल का कोई नया मॉडल आता है, युवा उसे हाथों-हाथ लेते हैं। ज़ाहिर है, इसमें मोबाइल कंपनियों की चांदी हो जाती है। लेकिन इस तरह मोबाइल फेंकने के दो दुष्परिणाम हैं - एक, मोबाइल में ऐसी धातुओं व पदार्थों का इस्तेमाल किया जाता है जो घातक होते हैं। इससे यह 'मोबाइल कूड़ा' पर्यावरण के लिए खतरनाक साबित हो रहा है। दूसरा, इस प्रकार संसाधनों का दुरुपयोग अर्थव्यवस्था पर भी विपरीत असर डाल रहा है। यही स्थिति कार, टेलीविज़न या अन्य उत्पादों के साथ भी हो रही है।

यह सच है कि इस समस्या से विकसित देश ज़्यादा पीड़ित हैं लेकिन यह भी सच है कि 'निओफीलिया' हमारे समाज में भी पैर पसार रहा है।

यह जुनून केवल उपभोक्ता वस्तुओं तक ही सीमित नहीं रह गया है। नए अकादमिक पाठ्यक्रमों खासकर विज्ञान, प्रौद्योगिकी व प्रबंधन के क्षेत्र में नई-नई शाखाओं-उपशाखाओं के प्रति भी आकर्षण में बढ़ोतरी हुई है। निओफीलिया पर इस नज़रिए से भी विचार करने की ज़रूरत है।

दिलचस्प बात यह है कि किसी ज़माने में जो विषय स्नातकोत्तर कक्षाओं में पढ़ाए जाते थे, वे अब स्नातक कक्षाओं में पढ़ाए जाने लगे हैं। प्रबंधन पाठ्यक्रम, कंप्यूटर एप्लीकेशन, सूक्ष्मजीव विज्ञान, जैव प्रौद्योगिकी, पर्यावरण अध्ययन, नैनो प्रौद्योगिकी इत्यादि इसी के उदाहरण हैं। पहले माना जाता था कि इन विषयों के अध्ययन के लिए विद्यार्थियों को कम से कम स्नातक होना चाहिए ताकि उनका आधार मज़बूत बन सके। इसके बाद उक्त विषयों का अध्ययन आसान हो सकेगा। लेकिन अब यह धारणा बदल चुकी है।

वैसे अक्सर देखने में आता है कि इन पाठ्यक्रमों की विषयवस्तु पुराने पारम्परिक पाठ्यक्रमों की ही नई पैकेजिंग होती है। इसे कहा जा सकता है- 'नई बोतल में पुरानी शराब'। अगर कुछ विश्वविद्यालयों के बी.एससी. इलेक्ट्रॉनिक के नए पाठ्यक्रम पर नज़र दौड़ाई जाए तो पता चलेगा कि इसकी 80 से 85 फीसदी विषय वस्तु पारम्परिक बी.एससी. भौतिकी के पाठ्यक्रम से ही ली गई है। यहां तक कि कुछ विश्वविद्यालयों में एम.एससी. इलेक्ट्रॉनिक में जो प्रयोग शामिल किए गए हैं, वे कुछ अन्य विश्वविद्यालयों में बी.एससी. भौतिकी में पहले से ही पढ़ाए जाते रहे हैं।

आजकल शिक्षा के बाज़ार में स्व-वित्तपोषित व कथित आधुनिक पाठ्यक्रमों की भरमार है। इन विषयों को पढ़ाने वाले या तो अतिथि शिक्षक होते हैं या पार्ट टाइम टीचर। इनकी योग्यता अक्सर संदेह के घेरे में रहती है। ऐसे में इन नए पाठ्यक्रमों का क्या औचित्य है? लेकिन विडंबना यह है कि इसके बावजूद बड़ी संख्या में विद्यार्थी इन पाठ्यक्रमों के प्रति आकर्षित हो रहे हैं।

स्व-वित्तपोषित शब्द से ही स्पष्ट है कि विद्यार्थी जो पढ़ना चाहता है, उसका पूरा खर्च यानी शिक्षकों के वेतन से लेकर प्रयोगशाला में इस्तेमाल की जाने वाली सामग्री पर होने वाला खर्च स्वयं विद्यार्थी को ही वहन करना होगा। पाठ्यक्रम की यह लागत अलग-अलग संस्थानों में अलग-अलग हो सकती है। पाठ्यक्रम अविराम चलते रहें, यह विद्यार्थियों की संख्या पर निर्भर करता है। अर्थात् जितने अधिक विद्यार्थी होंगे, उस पाठ्यक्रम के बंद होने की आशंका उतनी ही कम होगी। संस्थानों का पूरा ज़ोर इस बात पर रहता है कि अधिक से अधिक विद्यार्थियों को प्रवेश के लिए प्रेरित किया जाए। ऐसे में विद्याथियों की योग्यता व शैक्षणिक पृष्ठभूमि को परे रख दिया जाता है। पाठ्यक्रमों को आकर्षक बनाने के लिए नए व आधुनिक नामों के साथ पेश किया जाता है। ये नए व आधुनिक नाम इतने लुभावने होते हैं कि विद्यार्थी व उनके अभिभावक इनके जाल में फंस ही जाते हैं। उन्हें लगता है कि वैश्वीकरण के युग में ये पाठ्यक्रम बेहतर नौकरी की गारंटी बनेंगे। लेकिन क्या वाकई ऐसा होता है?

बेहतर भविष्य की गारंटी के दावों के पक्ष में इन संस्थानों के पास कोई विश्वसनीय आंकड़े नहीं हैं। न ही इन संस्थानों में ऐसा कुछ है जिनसे इनकी विश्वसनीयता साबित होती हो - न तो प्रशिक्षित स्टॉफ और न ही ढांचागत सुविधाएं। लेकिन इसके बावजूद ये संस्थान कुकुरमुत्तों की भांति लगातार फैलते जा रहे हैं।

इसकी प्रमुख वजह निओफीलिया ही मानी जा सकती है। शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त हो रहा यह निओफीलिया उपभोक्ता सामग्री या नए फैशन के प्रति बढ़ते जुनून की तुलना में कहीं अधिक गंभीर व घातक है। ऐसे में वक्त का तकाज़ा यही है कि हम इस पूरे मसले पर गंभीरतापूर्वक विचार करें और हाथ से निकलती जा रही स्थिति को काबू में करने का प्रयास करें। ***(स्रोत फीचर्स)***

अगले अंक में

स्रोत दिसम्बर 2007
अंक 10

- **बोर्ड परीक्षा फिर समाप्त**
- **नोबल पुरस्कार की घोषणा**
- **पेटेंट कानून और स्वास्थ्य अधिकार**
- **गर्दन दर्द और ब्लड प्रेशर**